

बनता बिगड़ता सबाल्टर्न बनाम साहित्य और समाज विज्ञान के सम्बंधों की समस्या

अभय कुमार दुबे

मैं तुम्हारी बातें क्यों सुनने लगा! तुम अपने बारे में जो बोल सकते हो उससे कहीं बेहतर चर्चा मैं तुम्हारे बारे में कर सकता हूँ। तुम्हारी आवाज सुनने की जरूरत ही क्या है। तुम तो केवल अपनी पीड़ा बताओ। मेरा मकसद तुम्हारी कहानी जानना है फिर मैं उसी कहानी को तुम्हें एक नये तरीके से सुनाऊंगा। इस तरह कि वह मेरी हो जायेगी, मेरी अपनी। तुम्हें लिखते समय मैं खुद को नये सिरे से लिखूंगा। लेकिन लेखक भी मैं रहूंगा, और प्राधिकार भी। मैं बोलने वाला कर्ता हूँ जिसकी चर्चा के केन्द्र में तुम हो। तुम, जो अभी भी मेरे उपनिवेश हो।'

यह उद्धरण विचारों की दुनिया में बेचैनी पैदा कर देता है। वीरेन्द्र यादव ने भी अपनी किताब 'उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता' के जरिये कुछ ऐसी ही कैफियत पैदा करने की कोशिश की है। इसलिए उनकी प्रस्थापनाओं पर विचार करने के लिए बेल हुक्स की ये पंक्तियां खासतौर से उपयोगी हैं। दरअसल, अपने ग्यारह निबंधों के जरिये वीरेन्द्र यादव ने दावा किया है कि उनके पास 'सबाल्टर्न' नाम की एक ऐसी 'उपयोगी' थीसिस है जिसके जरिये हिन्दी उपन्यास को साहित्यिक गढ़ल में सीमित कर देने वाली आस्वादपरक आलोचना के दायरे से निकाल कर कहीं व्यापक समाजशास्त्रीय आलोचना के दायरे में लाया जा सकता है। इसी मकसद से उन्होंने हिन्दी उपन्यास की एक सबाल्टर्न प्रस्तावना पेश की है। वीरेन्द्र यादव के सबाल्टर्न की मार बहुत व्यापक है। पुस्तक में प्रेमचंद के 'गोदान', यशपाल के 'झूठा सच', राही मासूम रजा के 'आधा गांव' और श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी' जैसे कालजयी उपन्यासों से लेकर हाल ही स्त्री लेखकों द्वारा रचे गये उपन्यासों (अलका सारावगी, गीतांजलि श्री, मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका, मधु कांकरिया) और नये किस्म के आंचलिक और ऐतिहासिक उपन्यासों (अब्दुल बिस्मिल्लाह, वीरेन्द्र जैन, बदीउज्जमां, भगवानदास मोरवाल, मनमोहन पाठक, श्रीप्रकाश मिश्र, तेजिन्दर, कमलाकांत त्रिपाठी) तक नाना प्रकार के रुझानों और विषयवस्तुओं को एक ही कसौटी पर कसने की जुरत की गयी है। चूंकि अधिकतर निबंधों की प्रकृति पॉलिमिकल (विवादात्मक) है इसलिए सबाल्टर्न निकष पर निर्मल वर्मा, रामविलास शर्मा, भीष्म साहनी, खुशवंत सिंह, विनोद कुमार शुक्ल, कुरुतुल एन हैदर, भगवान सिंह, सुरेन्द्र वर्मा, दूधनाथ सिंह, पंकज मिश्रा और राजकमल झा भी दाखिल खारिज किये गये हैं।

किसी भी लिहाज से यह एक विकट उद्यम है। रचनात्मक साहित्य की आलोचना के लिए मुश्किल से तीस साल पुरानी समाज विज्ञान की इस पद्धतिमूलक श्रेणी का ऐसा उपयोग हिन्दी की दुनिया के लिए एक अनूठी बात है। वीरेन्द्र यादव का यह दुस्साहस कम से कम दो प्रश्नों का उत्तर खोजने की सम्भावनाएं जगाता है। पहला प्रश्न यह कि क्या सबाल्टर्न अवधारणा के जरिये भारतीय आधुनिकता और आधुनिकीकरण के आख्यान के रूप में हिन्दी उपन्यास को समझने का कोई नया ढांचा बनाया जा सकता है; और दूसरा यह है कि क्या लिटरेरी थियरी से अलग रचनात्मक साहित्य और समाज विज्ञान के सम्बंधों का कोई सामान्य सूत्रीकरण किया जा सकता है?

आखिर यह सबाल्टर्न क्या है?

आखिर सबाल्टर्न है क्या? हिन्दी में इस समाज वैज्ञानिक पद का एक कमजोर सा अनुवाद उपलब्ध है : निम्नवर्ग या निम्नवर्गीय प्रसंग^१ लेकिन, इससे काम नहीं चल सकता, क्योंकि इतालवी मार्क्सवाद की कोख से पैदा होने के बावजूद अंग्रेजी में सबाल्टर्न नामक श्रेणी का प्रयोग क्लास या वर्ग की श्रेणी को गड़बड़ा देता है। वर्ग एक स्थिर श्रेणी है, पर सबाल्टर्न सापेक्षिक है। वर्ग एक बंद श्रेणी है, पर सबाल्टर्न दोनों सिरों पर खुली है। वैसे तो इतिहासलेखन में इस अवधारणा के आदिगुरु रंजीत गुहा समझे जाते हैं, पर आगे जाकर उसे साहित्यिक मुकामों तक ले जाने का श्रेय गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक को है। वे सतर्क करती हैं कि सिर्फ उत्पीड़ित होने से सबाल्टर्न होने की हैसियत प्राप्त नहीं की जा सकती। मजदूर वर्ग उत्पीड़ित है, पर केवल इसीलिए सबाल्टर्न नहीं है। सिर्फ भेदभाव के शिकार होने के नाते अल्पसंख्यक भी अपने आप सबाल्टर्न नहीं हो जाते। हो सकता है कि वे वर्चस्वी विमर्श की भाषा बोलते हुए सत्ता में हिस्सेदारी मांग रहे हों। स्पिवाक ने सबाल्टर्न को नारीवाद और उत्तर संरचनावाद से भी जोड़ा है और जेंडरीकृत सबाल्टर्न अस्मिताओं की तरफ ध्यान खींचने में कामयाबी हासिल की है।^२

बेल हुक्स के मुताबिक सबाल्टर्न वह है जो अपना प्रतिनिधित्व खुद करने का आग्रह करता है। विद्वानों, आलोचकों और इतिहासकारों को कोई हक नहीं है कि वे उसे महज एक जानने योग्य निष्क्रिय कर्ता में घटा दें, और सारी पहलकदमी और सक्रियता उनके हाथ में चली जाये। सबाल्टर्न की अवधारणा जानकारी के लक्ष्य और जानने का उद्यम करने वाले के बीच बंटे हुए ज्ञान के उस समीकरण को चुनौती देती है जिसे सबसे पहले पश्चिम की प्राच्यवादी विचारधारा ने स्थापित किया था। राष्ट्रवादी, उत्तर राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहासकारों ने प्राच्यवाद को तो खारिज कर दिया, लेकिन ज्ञान की इस राजनीति को अपना लिया।^३ 1978 में एडवर्ड सईद ने जैसे ही *ओरिएंटलिज्म* लिख कर प्राच्यवाद की युगप्रवर्तक आलोचना की,^४ समाज विज्ञान की दुनिया में उत्तर औपनिवेशिक अध्ययनों का समृद्ध दायरा बनने लगा जिसके तहत उस सबाल्टर्न अवधारणा के प्रवेश के लिए रास्ता खुल गया जिसके जनक इतालवी कम्युनिस्ट सिद्धांतकार एंटोनियो ग्राम्शी थे। शुरू में सबाल्टर्न इतिहासकारों का जोर किसान और आदिवासी विद्रोहों के आख्यान पेश करने पर था, इसलिए लगता था कि वे मार्क्सवाद में संशोधन की तजवीज कर रहे हैं, पर आगे चल कर सबाल्टर्न की अवधारणा केवल इतिहासकारों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली एक पद्धति के दायरे से निकल कर विविध और व्यापक होती चली गयी। किसानों या निम्नवर्ग तक सीमित न रह कर उसने एक भाववाचक संज्ञा का रूप ले लिया।

बहरहाल, इस दिक्कत के बावजूद सबाल्टर्नीयता के पैरोकार कम से कम यह दिखाने में कामयाब अवश्य रहे कि पूर्व बनाम पश्चिम, अपराध बनाम कानून, परम्परा बनाम आधुनिक, सेकुलर बनाम सेक्रेड, वर्गचेतना बनाम सामुदायिक चेतना, भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद, प्रतिक्रिया बनाम प्रगति, स्त्री अधीनता बनाम स्त्री मुक्ति के द्विभाजनों को स्थापित करने की प्रक्रिया में क्या छिपाया और क्या उघाड़ा गया। कुल मिला कर सबाल्टर्न बड़ी पेचीदा चीज साबित हुई। इसीलिए स्पिवाक महाश्वेता देवी की रचनाओं को अंग्रेजी में पेश करते हुए इस नतीजे पर पहुंची कि सबाल्टर्न अनुवाद की प्रक्रिया में पकड़ में आता है। अर्थात् सबाल्टर्न होने या न होने के बीच कहीं स्थित है। जरा से चूकते ही किसी न किसी स्थापित द्विभाजन या श्रेणी की जकड़ में फंस जाने का खतरा रहता है।

वीरेन्द्र यादव के दो तीन शुरुआती निबंध पढ़ कर ही अंदाजा लग जाता है कि पूरी किताब में उनका लहजा क्या होगा। इससे दो बातों का सुराग लगाया जा सकता है। पहला, वे सबाल्टर्न और सबाल्टर्नीयता को एक प्रविधि के रूप में लेने जा रहे हैं। वे हिन्दी में उसके एक्सपर्ट की मुद्रा में उभरना चाहते हैं। दूसरा, वे किसी और जमाने के बारे में लिखे गये उपन्यासों का पाठ करते हुए अपने हिसाब से तात्पर्य निरूपण करके उसे आज के राजनीतिक विमर्श पर प्रोजेक्ट करने का तरीका अपनायेंगे।

जो भी हो, पहली प्रविधि के बावजूद उनसे यह उम्मीद की जा सकती है कि उन्होंने सतकर्ता बरती होगी। न स्थापित श्रेणियों के चक्कर में फंसे होंगे, और न ही खुद के वैचारिक आग्रहों को केन्द्रस्थ करके सबाल्टर्न की आड़ में आखेट किया होगा। इसी तरह दूसरी प्रविधि के बावजूद उनसे आशा की जा सकती है कि वे 'मंडल, मंदिर और भूमंडल' की प्रचलित राजनीति से निकले सतही और आसान द्विभाजनों से बचते हुए गहराई में गये होंगे और इस प्रक्रिया में भारतीय लोकतंत्र और समाज की बेहतर समझ बनाने का उद्यम किया होगा।

सबाल्टर्न या 'जस्ट ए क्लासी वर्ड फॉर आप्रेस्ड' ?

आइये, देखें पुस्तक के पहले निबंध 'हिन्दी उपन्यास : एक सबाल्टर्न प्रस्तावना' और दूसरे निबंध 'संदर्भ गोदावा' में वे अपने बाकी लेखों की भावभूमि किस प्रकार रचते हैं। उनकी पहली 'सबाल्टर्न' स्थापना यह है कि अभिजन और निम्नजन को 'अलग अलग पटरियों पर' देखने के बजाय 'पारस्परिक आश्रय, सम्बंध और द्वंद्व' के आईने में देखना चाहिए। दूसरी प्रस्थापना यह है कि निम्नवर्ग की चेतना में बदलाव की शिनाख्त करने के लिए हमेशा ऊर्ध्वगामी प्रक्रियाओं पर ही नहीं बल्कि अधोगामी प्रक्रियाओं पर भी नजर रखनी चाहिए। तीसरी प्रस्थापना यह है कि मंडल के जरिये हुआ मध्य जातियों का उभार सवर्ण के खिलाफ अवर्ण श्रेणी की दावेदारी है। चौथी प्रस्थापना यह है कि भारत की साझी और सामाजिक संस्कृति को छिन्न भिन्न करने का काला कारनामा धार्मिक कट्टरवाद ने अंजाम दिया है। उनकी यह प्रस्थापना आगे के निबंधों में और स्पष्ट होती है जब वे बताते हैं कि साम्प्रदायिकता की जड़ में धार्मिक फासीवाद और 'बद्धमूल धार्मिक संस्कार' हैं। उनकी पांचवीं प्रस्थापना यह है कि भारतीय समाज में पितृसत्ता स्त्री को पंचम वर्ण की स्थिति में धकेल देती है।

ये प्रस्थापनाएं वीरेन्द्र यादव को अभिजन के मुकाबले निम्नजन के, पुरुष की सत्ता के मुकाबले स्त्री के, सवर्ण के बजाय अवर्ण के, साम्प्रदायिकता के खिलाफ धर्मनिरपेक्षता के और 'सेक्रेड' के बजाय 'सेकुलर' के पैरोकार की तरह पेश करती हैं। लेकिन, इसमें खास बात क्या है? ऐसी आसान, सुरक्षित, सुविधाजनक और 'पॉलिटिकली करेक्ट' प्रस्थापनाएं तो साहित्य की दुनिया में वामपंथियों और उदारतावादियों द्वारा मुद्दतों से की जा रही हैं। ये तो सब पुरानी श्रेणियां हैं, पुराने द्विभाजन हैं। क्या पुराना मार्क्सवाद इस तरह की दावेदारी के लिए काफी नहीं है? सिर्फ उसमें नारीवाद का छोक ही तो चाहिए जिसे सोशलिस्ट फेमिनिज्म के जरिये आसानी से डाला जा सकता है। सबाल्टर्न का आह्वान करने की क्या जरूरत थी? केवल निर्मल वर्मा के सेकुलरद्रोही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का खंडन करने से, या रामविलास शर्मा की सांचे ढली वर्गवादी दृष्टि की आलोचना करने से, या पुरुष की रसिक भोगवादी निगाह को आड़े हाथों लेने से तो कोई नयी बात नहीं बनती। क्या निम्नवर्ग की अभिजन से विवशतापूर्ण और परिस्थितिजन्य सह अपराधिता (बकौल वीरेन्द्र यादव के भारतीय ग्राम्य समाज की सीमा के तहत) को खारिज न करके हमदर्दी से देखना ही वीरेन्द्र यादव को हिन्दी का सबाल्टर्न सिद्धांतकार बनाने के लिए काफी समझ जाना चाहिए? पूरी पुस्तक में अगर कहीं सबाल्टर्न समझ का सदुपयोग करके कोई नयी बात कहने की कोशिश नजर आती है तो वह शायद यही है। हालांकि सबाल्टर्न थीसिस की बारीकी में जाकर इसे भी प्रश्नांकित किया जा सकता है। पूछा जा सकता है कि सबाल्टर्न थीसिस निम्नवर्गीय 'चेतना के बदलाव की प्रक्रिया' में कब से दिलचस्पी लेने लगी? यह काम तो पुराने मार्क्सवादी करते थे। सबाल्टर्न इतिहासकारों ने तो अपनी शुरुआत विद्रोही किसानों और आदिवासियों में राजनीतिक चेतना के स्वाभाविक रूपों की शिनाख्त से की थी। निम्नवर्गीय प्रसंग को 'ऊर्ध्वगामी' और 'अधोगामी' में बांट देने का फैसला करने का अधिकार अपने हाथ में लेकर वीरेन्द्र यादव खुद को 'सेण्टर' में ले आते हैं, जबकि सबाल्टर्न उनसे 'डिसेण्टर' होने की मांग करता है ताकि वह खुद हाशिये से निकल कर केन्द्र में आ सके।

जाहिर है कि वीरेन्द्र यादव ने सबाल्टर्न को 'जस्ट ए क्लासी वर्ड फॉर अप्रेस्ड' मान लिया है, जबकि स्पिवाक ने इसी के खिलाफ चेताया था। सबाल्टर्नीयता उनके हाथ से फिसल चुकी है। लेकिन, कोई बात नहीं। यह बड़ी जालिम चीज है, लगातार बनती बिगड़ती रहती है। अगर ये लेख पच्चीस साल पहले सामने आते तो बात ज्यादा समझ में आती। ऐसा लगता था कि ऊंची जातियों के राजनीतिक प्रभुत्व को इससे चुनौती मिलेगी। रजनी कोठारी किसान जातियों के रूप में 'राजनीति के नये उद्यमियों' के मंचस्थ होने की भविष्यवाणी कर चुके थे।⁶ लेकिन, सवाल यह है कि 'आधा गांव' में वर्णित शिया अभिजनों द्वारा शोषित उत्पीड़ित अहीर के आईने में मध्य जातियों का वह पॉलिटिकल इलीट कैसे देखा जा सकता है जो पिछले बीस साल में उभर आया है? साठ साल पहले की मध्यजातियों और उत्तर मंडल मध्यजातियों में उन्हें जरूर अंतर दिखता होगा। 'प्रोसीजरल डेमोक्रेसी' के सर्वेक्षणवादी सिद्धांतकार मध्य जातियों के इस उभार को जब लोकतांत्रिक उभार की संज्ञा देते हैं तो उनका संदर्भ चुनावी राजनीति होता है, और हम सब उनकी आवाज में आवाज मिलाते हैं। लेकिन, जो बात वोट डालने के संदर्भ में सही है, वह समाज और संस्कृति की जमीन पर निम्नजन के एक हिस्से के अभिजन में तब्दील होते जाने की प्रक्रिया की तरफ इशारा भी करती है। यह प्रक्रिया सकारात्मक इसलिए है कि इससे लोकतंत्र का टिकाऊपन बढ़ता है। जिस लोकतंत्र के इलीट का साइज बढ़ता रहता है, उसे कभी वैधता के संकट का सामना नहीं करना पड़ता। इसी के चलते 'आधा गांव' का अहीर आज का यादव है। रेणु के मेरीगंज का जो यादव जनेऊ पहनने के बावजूद एम.एन. श्रीनिवास द्वारा प्रतिपादित 'संस्कृतिकरण' को उपलब्ध नहीं कर पाया, वह उन्हीं द्वारा प्रतिपादित 'प्रभुत्वशाली जाति' की गति को प्राप्त हो चुका है। कल की सबाल्टर्नीयता के दम पर आज की सबाल्टर्नीयता स्थापित नहीं की जा सकती।

साहित्य और समाज विज्ञान : अंतर्सम्बंधों की समस्या

रचनात्मक साहित्य की समाजशास्त्रीय जांच पड़ताल का प्रोजेक्ट श्लाघनीय है, पर उसके लिए दो बातें समझना जरूरी है। पहली यह कि उपन्यास या किसी भी अन्य विधा की साहित्यिक गढ़त के रूप में आलोचना करना भी स्वयं में एक तरह की सोशल साइंस है। लिटरेरी थियरी समाज विज्ञान के अनिवार्य अंग के रूप में उसे समृद्ध करती है और आस्वादपरक आलोचना समाज विज्ञान की एंटीथीसिस नहीं है। साहित्य कोई सर्वे रपट नहीं है जिसकी मीमांसा आस्वादपरकता को खारिज करके की जा सकती हो।

फिर भी, अगर प्रचलित साहित्यालोचना से अलग जमीन पर साहित्य का अनुशीलन करना है, और भाषा और अनुभूति पर केन्द्रस्थ न रह कर समाज विज्ञान के स्थापित सिद्धांतों की रोशनी में ही उसकी रीडिंग करनी है तो लाजमी तौर पर तय करना पड़ेगा कि ऐसा करते हुए सरोकार मुख्य तौर पर एक पेशेवर समाजवैज्ञानिक के ही रहेंगे। ऐसा अनिवार्य निर्णय लेने वाला समाजवैज्ञानिक अपने सैद्धांतिक ज्ञान का इस्तेमाल बड़ी सावधानी से करेगा। मध्य जातियों को अवर्ण कहने के चक्कर में फंसना (पत्रकारों की दुनिया बड़ी खुशमिजाजी से यह काम करती रहती है) तो दूर की बात रही, वह स्त्री और पंचम वर्ण को परस्परव्यापी श्रेणी के रूप में पढ़ने के लिए कभी तैयार नहीं होगा, क्योंकि उसे पता होगा कि नारीवादी विमर्श और दलित विमर्श दो भिन्न श्रेणियां हैं।⁸ एक दूसरे का समर्थन देते हुए वे एक मुकाम पर परस्पर टकराव में चली जाती हैं। इस विचारोत्तेजक बहस से दलित नारीवाद की संरचना बनती है जो पाले के एक तरफ नारीवादी आंदोलन की उन निष्पत्तियों को भी प्रश्नांकित करती है जो ऊंची जाति की अंग्रेजी पढ़ी लिखी औरतों से पगी हुई हैं, दूसरी तरफ दलित एकता के महाआख्यान को भी गड़बड़ाती है। वीरेन्द्र यादव दलित विमर्श का एकाधिक बार जिक्र तो करते हैं, पर देखने की बात यह है कि वे दलित विमर्श पर खासतौर से कोई रोशनी नहीं फेंकते। दलित लेखकों ने उपन्यास शायद नहीं लिखे हैं, पर उन्होंने आत्मकथाएं तो लिखी ही हैं। साहित्य में दिलचस्पी रखने

वाला समाजवैज्ञानिक न तो आत्मकथाओं की उपेक्षा कर सकता है, और न ही वह साहित्य में चल रहे दलित विमर्श के राजनीति के धरातल पर चल रहे दलित विमर्श के राजनीति के धरातल पर चल रहे दलित विमर्श से अंतर्विरोध की तरफ से नजर फेर सकता है।⁹

इसी तरह वह समाजवैज्ञानिक ओरिएंटलिज्म, ब्राह्मणवाद और हिन्दू एजेण्डे को गड्डमगड्ड करने से पहले सौ बार सोचेगा। साम्प्रदायिकता धार्मिक कट्टरता की उपज है या एक खास तरह की बहुसंख्यकवादी राजनीति की, इसके बारे में किसी की कोई गलतफहमी हो तो हो, समाज विज्ञान की दुनिया इस बहस के आगे काफी दूर तक यात्रा कर चुकी है। साम्प्रदायिकता, फासीवाद और धार्मिक कट्टरता जैसी अलग अलग श्रेणियों में घालमेल करना तो केवल पत्रकारों को शोभा देता है। उसे नहीं जो सबाल्टर्न थीसिस का पैरोकार हो। सबाल्टर्न कलेक्टिव के प्रतिष्ठित सदस्य पार्थ चटर्जी सफलतापूर्वक इन श्रेणियों की भिन्नता प्रदर्शित कर चुके हैं।¹⁰ इसके अलावा वह केवल उन्हीं किताबों का जिक्र करेगा, जिनके बारे में उसे पता होगा कि उनके पन्नों पर क्या लिखा है। मसलन वह निकोलस डिक की किताब का जिक्र करने से पहले यह भी सोचेगा कि कहीं डिक की प्रस्थापनाएं उसकी अपनी थीसिस के खिलाफ नहीं चली जायेंगी। आखिर डिक जाति की श्रेणी के अंग्रेजों द्वारा किये गये अराजनीतिकरण की आलोचना करते हैं। अगर उनकी आलोचना सही है तो फिर ब्राह्मणवाद की श्रेणी का बार बार आह्वान करने का मतलब ही नहीं रह जायेगा। यह भी पूछा जाना चाहिए क्या डिक की रचना '*कास्ट्स ऑव माइंड*' दलित और पिछड़े उभार के बारे में है? यह किताब तो अंग्रेज प्रभुओं द्वारा जातिप्रथा के साथ किये गये सुलूक के बारे में है। क्रिस्टोफर जेफ्रेलाट और सुधा पै की किताबों से उसकी तुक कैसे मिलती है?

अगर कोई समाज वैज्ञानिक अपनी पेशेवर जमीन पर खड़े होकर साहित्य का अनुशीलन करेगा तो उसे साहित्य की भीतरी राजनीति और गुटबाजी में फंसने की कोई जरूरत नहीं होगी। पेशेवर समाज वैज्ञानिक वर्माओं और शर्माओं से मारधाड़ में दिलचस्पी नहीं रखेगा। मसलन, निर्मल वर्मा की 'भारतीयता' को सेकुलरद्रोही के रूप में चिह्नित करने के बजाय (जिसकी कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि निर्मल खुद को उसकी मुद्रा में पेश करते हैं) वह उसकी समीक्षा के लिए आधुनिकता की उन आलोचनाओं की शरण में जायेगा जो पिछले बीस साल से समाज विज्ञान की दुनिया को आवेशित कर रही हैं। तब उसे दिखेगा कि निर्मल का दक्षिणपंथी हिन्दू उस वामपंथी हिन्दू के प्रतिकार में खड़ा हुआ है जो आजादी के बाद साहित्यिक सांस्कृतिक विमर्श पर छा गया था और उसके उस वर्चस्व में खुद निर्मल वर्मा ने कभी भागीदारी की थी। निर्मल का अध्यात्म हो या अंग्रेजी उपन्यासकार पंकज मिश्रा के 'रोमांटिक्स' का वैराग्य हो, उसकी आलोचना आधुनिकता की आलोचना की जमीन पर ही हो सकती है।

साहित्य का समाजशास्त्रीय अनुशीलन करने वाला समाज वैज्ञानिक अपने अनुशासन की कीमत पर फिकरेबाजी से भी बचेगा। वह न केवल अपनी सेकुलरिज्म सम्बंधी अवधारणा का खुलासा करेगा, बल्कि स्त्री विमर्श और दलित विमर्श जैसी अभिव्यक्तियों का इस्तेमाल करते हुए स्पष्ट करेगा कि इनसे उसका बुनियादी मतलब क्या है। आखिर विचारों के क्षेत्र में ये सभी विमर्श भीतर और बाहर से 'कंटेस्टेड' होने के नाते लगातार विकासमान हैं। उनके कई संस्करण हैं। जब कोई उपन्यास लिखा जाता है, तो उसमें स्त्री पात्र होते हैं। उपन्यासकार उनके बारे में कुछ न कुछ कहता ही है। वह सब कुछ स्त्री विमर्श के मध्ये नहीं मढ़ा जा सकता। समाज विज्ञान में स्त्री विमर्श का एक खास मतलब है और वह हर जगह मौजूद नहीं होता, बल्कि उसे समाज वैज्ञानिक अपनी विद्वता और विश्लेषण क्षमता के जरिये 'कंस्ट्रक्ट' करता है। इसके लिए नारीवादी विमर्श और सेक्शुअलिटी स्टडीज में पारंगत होना आवश्यक है। पुरुष की रसिक भोगवादी निगाह क्या है? मैत्रेयी पुष्पा नारीमुक्ति को देहमुक्ति में कैसे रिड्यूस करती हैं? ये सब दावे व्याख्या की मांग करते हैं। पुरुष की लालसा क्यों लम्पट लगती है और स्त्री का पुरुष के प्रति दैहिक आकर्षण कैसे उदात्त बन जाता है, यह विश्लेषण सेक्शुअलिटी स्टडीज

के जरिये ही सम्पन्न किया जा सकता है। वरना सिर्फ अपनी पसंद से किये गये दावों के अलावा कुछ नहीं रह जायेगा। गीतांजलि श्री के उपन्यास की बेहतरीन उपलब्धि यानी स्त्री समलैंगिकता हाथ से फिसल जायेगी। इसी तरह अनामिका के उपन्यास से उद्धरण तो अच्छा छोट लिया जायेगा, पर 'मल्टीपल इंटीमसी' की अवधारणा पकड़ में नहीं आयेगी। जहां तक पितृसत्ता का सवाल है, वह तो हर जगह है। हर व्यवस्था में है, हर वैचारिक आंदोलन में है। उसका एक रूप हटता है तो दूसरा बदला हुआ रूप उसकी जगह लेता है। सबाल्टर्न और नारीवाद के संश्रय की खूबी यही है कि वह पितृसत्ता के 'म्यूटेशंस' का पता लगाता है। हिन्दी में स्त्री विमर्श पहले तो साहित्यालोचकों ने मुश्किल और देर से स्वीकार किया। फिर उसमें से स्त्री की देह और सेक्शुअलिटी के प्रश्न पूरी तरह से ठंडे बस्ते में डालने की नियोजित मुहिम चली। मैत्रेयी पुष्पा सहित हर उस स्त्री लेखक की लानत मलामत की गयी जिसने स्त्री की कामना जैसे वर्जित प्रदेश में कदम रखने की कोशिश की। वीरेन्द्र यादव के आधे अधूरे प्रयास ने भी एक बार फिर साबित किया है कि अभी हिन्दी में स्त्री लेखन की आलोचना के औजार विकसित नहीं हुए हैं। जब वे कहते हैं कि ये उपन्यास भारतीय समाज में स्त्री प्रश्न का कोलाज सा रचते दिखते हैं, तो साफ हो जाता है कि उस कोलाज के घटकों को अलग अलग साफ साफ देखने का उपक्रम उनसे नहीं बन पाया है।

संदर्भ

1. बेल हुक्स 'मार्जिनलिटी एज ए साइट ऑव रजिस्टेंस', आर, फार्गुसन (सं.), *आउट देयर : मार्जिनलाइजेशन एंड कम्प्रेरी कल्चर*, केम्ब्रिज, एमआईटी, 1990, पृ. 241-43
2. यह अनुवाद स्वयं सबाल्टर्न इतिहासकारों द्वारा किया गया है। वीरेन्द्र यादव ने भी अपनी किताब में इसी पद का इस्तेमाल किया है।
3. लियोन डिकॉक, 'इंटरव्यू विद गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक : न्यू नेशन राइटर्स कान्फ्रेंस इन साउथ अफ्रीका', *ए रिव्यू ऑव इंटरनेशनल इंग्लिश लिटरेचर*, 23 (3), 1992, 29-47
4. इतिहासलेखन के इस विकास की बेहतरीन व्याख्या के लिए देखें, ज्ञान प्रकाश, 'राइटिंग पोस्ट-ओरिएंटलिस्ट हिस्ट्री ऑव दि थर्ड वर्ल्ड : पर्सपेक्टिवज फ्राम इंडियन हिस्टीरियोग्राफी', *कम्परेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एंड हिस्ट्री*, 32, 1990, पृ. 383-408
5. एडवर्ड विलियम सईद, *ओरिएंटलिजम : वेस्टर्न कंसेप्शन ऑव दि ओरिएंट*, (पहला संस्करण 1978 में) पेंगुइन, दिल्ली, 1995 (इस संस्करण में सईद ने अपनी थीसिस के आलोचकों को जवाब देते हुए एक नयी पश्चात भूमिका भी लिखी है)।
6. रजनी कोठारी, *भारत में राजनीति : कल और आज*, (प्रस्तुति और सम्पादन : अभय कुमार दुबे), वाणी, दिल्ली, 2005 (विशेष तौर से देखें जाति और राजनीति के अंतर्संबंधों वाला अध्याय)।
7. योगेन्द्र यादव, 'अंडरस्टैंडिंग दि सेकंड डेमोक्रेटिक अपसर्ज : ट्रेड्स इन बहुजन पार्टिसिपेशन इन इलेक्ट्रोरल पॉलिटिक्स इन दि 1990 ज', फ्रांसिस आर. फ्रेंकेल वगैरह (सं.), *ट्रांसफार्मिंग इंडिया : सोशल एंड पॉलिटिकल डायनामिक्स ऑव डेमोक्रेसी*, ओयूपी, दिल्ली, 2000
8. नब्बे के दशक में चमन लाल द्वारा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में नारीवादी और दलित विमर्श की भिन्नताओं पर हुए एक सेमिनार में इस मुद्दे पर नारीवादियों और दलित बुद्धिजीवियों में दिलचस्प बहस हो चुकी है। वहां मौजूद मार्क्सवादियों की समझ में ही नहीं आ रहा था कि इस बहस में हस्तक्षेप कैसे किया जाये।
9. शिमला के एडवांस स्टडी इंस्टीट्यूट में सितम्बर, 2009 में हुए हिन्दी सप्ताह (हिन्दी की आधुनिकता : एक पुनर्विचार) में इन मुद्दों पर गम्भीर चर्चा हुई। इससे निकले विचारों के आधार पर मैंने दिसम्बर 2009 में हुई सीएसडीएस की सालाना फैकल्टी रिट्रीट में 'हिन्दी मॉडर्निटी : हाउ टु कॉन्फिगर इट?' पेश किया।
10. पार्थ चटर्जी, 'सेकुलरवाद और सहिष्णुता', अभय कुमार दुबे (सं.) *वीच बहस में सेकुलरवाद*, वाणी, दिल्ली, 2005

उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता : वीरेन्द्र यादव, प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य : 350.00 रु.